॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

(पाँचवाँ अध्याय)

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	=हे कृष्ण! (आप)	**योगम्**	=कर्मयोगकी	**सुनिश्चितम्**	=निश्चित रूपसे
कर्मणाम्	=कर्मोंका	**शंससि**	=प्रशंसा करते हैं। (अतः)	**श्रेयः**	=कल्याणकारक हो,
सन्न्यासम्	=स्वरूपसे त्याग करनेकी	**एतयोः**	=इन दोनों साधनोंमें	**तत्**	=उसको
च	=और	**यत्**	=जो	**मे**	=मेरे लिये
पुनः	=फिर	**एकम्**	=एक	**ब्रूहि**	=कहिये।

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—

सन्न्यासः	=संन्यास (सांख्ययोग)	**निःश्रेयसकरौ**	=कल्याण करनेवाले हैं।	**कर्मसन्न्यासात्**	=कर्मसंन्यास (सांख्य-योग)से
च	=और	**तु**	=परन्तु		
कर्मयोगः	=कर्मयोग	**तयोः**	=उन दोनोंमें (भी)	**कर्मयोगः**	=कर्मयोग
उभौ	=दोनों ही			**विशिष्यते**	=श्रेष्ठ है।

विशेष भाव—यद्यपि 'योग' के बिना कर्म और ज्ञान—दोनों ही बन्धनकारक हैं, तथापि कर्म करनेसे उतना पतन नहीं होता, जितना पतन वाचिक (सीखे हुए) ज्ञानसे होता है। वाचिक ज्ञान नरकोंमें ले जा सकता है—

अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥

(योगवासिष्ठ, स्थिति० ३९)

'जो बेसमझ मनुष्यको 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा उपदेश देता है, वह उस मनुष्यको महान् नरकोंके जालमें डाल देता है।'

अतः वाचक ज्ञानीकी अपेक्षा कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है। फिर जो कर्मयोगका आचरण करता है, उसकी

श्रेष्ठताका तो कहना ही क्या! ज्ञानयोगी तो केवल अपने लिये उपयोगी होता है, पर कर्मयोगी संसारमात्रके लिये उपयोगी होता है। जो संसारके लिये उपयोगी होता है, वह अपने लिये भी उपयोगी हो जाता है—यह नियम है। इसलिये कर्मयोग विशेष है।

सांख्ययोगके बिना तो कर्मयोग हो सकता है, पर कर्मयोगके बिना सांख्ययोग होना कठिन है (गीता ५। ६)। इसलिये सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष है। सांख्ययोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है और कर्मयोगसे भक्तियोग श्रेष्ठ है (गीता ६। ४७)। इसलिये गीतामें पहले सांख्ययोग, फिर कर्मयोग और फिर भक्तियोग—इस क्रमसे विवेचन किया गया है*।

फलमें कर्मयोग और ज्ञानयोग एक हैं (गीता ५। ४-५)। साधनमें कर्मयोग और भक्तियोग एक हैं—**'मैत्रः करुण एव च'** (गीता १२। १३); क्योंकि कर्मयोग और भक्तियोग—दोनोंमें ही दूसरेको सुख देनेका भाव रहता है। कर्म करनेमें कर्मी और कर्मयोगी एक हैं (गीता ३। २५) तथा तत्त्वज्ञ महापुरुष और भगवान् भी कर्म करनेमें साथ हैं (गीता ३। २२—२६)। इस प्रकार कर्मी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी और भगवान्—चारोंके साथ कर्मयोगी एक हो जाता है—यह कर्मयोगकी विशेषता है।

सांख्ययोगमें तो अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार रह सकता है, पर कर्मयोगमें क्रिया और पदार्थसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार भी नहीं रहता। कर्मयोगमें अकर्म (अभाव) शेष रहता है (गीता ४। १८) और सांख्ययोगमें आत्मा शेष रहता है (गीता ६। २९)।

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

महाबाहो	=हे महाबाहो!	**काङ्क्षति**	=आकांक्षा करता है;	**निर्द्वन्द्वः**	=द्वन्द्वोंसे रहित (मनुष्य)
यः	=जो मनुष्य	**सः**	=वह (कर्मयोगी)	**सुखम्**	=सुखपूर्वक
न	=न	**नित्यसन्न्यासी**	=सदा संन्यासी	**बन्धात्**	=संसार-बन्धनसे
द्वेष्टि	=(किसीसे) द्वेष करता है (और)	**ज्ञेयः**	=समझनेयोग्य है;	**प्रमुच्यते**	=मुक्त हो जाता है।
न	=न (किसीकी)	**हि**	=क्योंकि		

विशेष भाव— बाहरके सुख-दुःख (सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति)में सम और भीतरके सुख-दुःखसे रहित होना 'निर्द्वन्द्व' अर्थात् द्वन्द्वरहित होना है।

तादात्म्यमें चेतन-अंशकी मुख्यतासे 'जिज्ञासा' रहती है और जड़-अंशकी मुख्यतासे 'कामना' रहती है। मनुष्यमें भूख तो अविनाशी-तत्त्वकी रहती है, पर रुचि नाशवान्‌की रहती है; क्योंकि अविनाशीकी भूखको वह नाशवान्‌के द्वारा मिटाना चाहता है। भूख और रुचिका यह द्वन्द्व मनुष्यके संसार-बन्धनको दृढ़ करता है। जब मनुष्यका संसारमें राग-द्वेष नहीं रहता, तब उसकी जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है और कामना मिट जाती है अर्थात् वह निर्द्वन्द्व हो जाता है।

---

* भागवतमें भी यही क्रम है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योग-मार्ग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

बालाः	= बेसमझ लोग	**न**	= न कि	**सम्यक्**	= अच्छी तरहसे
साङ्ख्ययोगौ	= सांख्ययोग और कर्मयोगको	**पण्डिताः**	= पण्डितजन; (क्योंकि)	**आस्थितः**	= स्थित (मनुष्य)
				उभयोः	= दोनोंके
पृथक्	= अलग-अलग (फलवाले)	**एकम्**	= (इन दोनोंमेंसे) एक साधनमें	**फलम्**	= फलरूप (परमात्माको)
प्रवदन्ति	= कहते हैं,	**अपि**	= भी	**विन्दते**	= प्राप्त कर लेता है।

विशेष भाव—जो अन्य शास्त्रीय बातोंको तो जानता है, पर सांख्ययोग और कर्मयोगके तत्त्वको गहराईसे नहीं जानता, वह वास्तवमें बालक अर्थात् बेसमझ है।

गीताभरमें अविनाशी तत्त्वके लिये 'फल' शब्द इसी श्लोकमें आया है। 'फल' शब्दका अर्थ है—परिणाम। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों साधनोंसे प्राप्त होनेवाले तत्त्वको 'फल' कहनेका तात्पर्य है कि इन दोनों साधनोंमें मनुष्यका अपना उद्योग मुख्य है। ज्ञानयोगमें विवेकरूप उद्योग मुख्य है और कर्मयोगमें परहितकी क्रियारूप उद्योग मुख्य है। साधकका अपना उद्योग, परिश्रम सफल हो गया, इसलिये इसको 'फल' कहा गया है। यह फल नष्ट होनेवाला नहीं है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनोंका फल आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान है।

कर्तव्य-कर्म करना कर्मयोग है और कुछ न करना ज्ञानयोग है। कुछ न करनेसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति कर्तव्य-कर्म करनेसे हो जाती है। 'करना' और 'न करना' तो साधन हैं और इनसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती है, वह साध्य है।

~~~

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥

साङ्ख्यैः	= सांख्ययोगियोंके द्वारा		द्वारा	**च**	= और
		अपि	= भी	**योगम्**	= कर्मयोगको (फलरूपमें)
यत्	= जो	**तत्**	= वही		
स्थानम्	= तत्त्व	**गम्यते**	= प्राप्त किया जाता है। (अतः)	**एकम्**	= एक
प्राप्यते	= प्राप्त किया जाता है,			**पश्यति**	= देखता है,
		यः	= जो मनुष्य	**सः, च**	= वही (ठीक)
योगैः	= कर्मयोगियोंके	**साङ्ख्यम्**	= सांख्ययोग	**पश्यति**	= देखता है।

विशेष बात—सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों साधन लौकिक होनेसे एक ही हैं। सांख्ययोगमें साधक चिन्मयतामें स्थित होता है और चिन्मयतामें स्थिति होनेपर जड़ताका त्याग हो जाता है। कर्मयोगमें साधक जड़ताका त्याग करता है और जड़ताका त्याग होनेपर चिन्मयतामें स्थिति हो जाती है। इस प्रकार सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों ही साधनोंके परिणाममें चिन्मयताकी प्राप्ति अर्थात् चिन्मय स्वरूपमें स्थितिका अनुभव हो जाता है।

शरीरको संसारकी सेवामें लगा देना कर्मयोग है और शरीरसे स्वयं अलग हो जाना ज्ञानयोग है। चाहे शरीरको संसारकी सेवामें लगा दें, चाहे शरीरसे स्वयं अलग हो जायँ—दोनोंका परिणाम एक ही होगा अर्थात् दोनों ही साधनोंसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वरूपमें स्थिति हो जायगी।

यहाँ चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें चौथे श्लोकके पूर्वार्धका सम्बन्ध पाँचवें श्लोकके उत्तरार्धके साथ है और पाँचवें श्लोकके पूर्वार्धका सम्बन्ध चौथे श्लोकके उत्तरार्धके साथ है।
~~~

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीन साधनोंमें ज्ञानयोग और भक्तियोगका प्रचार तो अधिक है, पर कर्मयोगका प्रचार बहुत कम है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है कि 'बहुत समय बीत जानेके कारण यह कर्मयोग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया है (४। २)। इसलिये कर्मयोगके सम्बन्धमें यह धारणा बनी हुई है कि यह परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है। अतः कर्मयोगका साधक या तो ज्ञानयोगमें चला जाता है अथवा भक्तियोगमें चला जाता है; जैसे—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ९)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक भोगोंसे वैराग्य न हो जाय (ज्ञानयोगका अधिकारी न बन जाय) अथवा मेरी लीला-कथाके श्रवणादिमें श्रद्धा न हो जाय (भक्तियोगका अधिकारी न बन जाय)।'

परन्तु यहाँ भगवान् ज्ञानयोगकी तरह कर्मयोगको भी परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बता रहे हैं। उपर्युक्त चौथे-पाँचवें श्लोकोंके सिवाय गीतामें अनेक जगह कर्मयोगके द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक तत्त्वज्ञान, परमशान्ति, मुक्ति अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेकी बात आयी है; जैसे—'**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति**' (४। ३८), '**योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति**' (५। ६), '**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (४। २३), '**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः**' (४। १९), '**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्**' (५। १२)। श्रीमद्भागवतमें भी कर्मयोगको परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया गया है—

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीः काम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥

(११। २०। १०)

'जो स्वधर्ममें स्थित रहकर तथा भोगोंकी कामनाका त्याग करके अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन करता है तथा सकामभावपूर्वक कोई कर्म नहीं करता, उसको स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता अर्थात् वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

(११। २०। ११)

'स्वधर्ममें स्थित वह कर्मयोगी इस लोकमें सब कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करते हुए भी पाप-पुण्यसे मुक्त होकर बिना परिश्रमके तत्त्वज्ञानको अथवा परमप्रेम (पराभक्ति)को प्राप्त कर लेता है।'

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोग साधकको ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगका अधिकारी भी बना देता है और स्वतन्त्रतासे कल्याण भी कर देता है। दूसरे शब्दोंमें, कर्मयोगसे साधन-ज्ञान अथवा साधन-भक्तिकी प्राप्ति भी हो सकती है और साध्य-ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अथवा साध्य-भक्ति (परमप्रेम या पराभक्ति)की प्राप्ति भी हो सकती है।

~~~

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६ ॥

तु	= परन्तु	**आप्तुम्**	= सिद्ध होना	**नचिरेण**	= शीघ्र ही
महाबाहो	= हे महाबाहो!	**दुःखम्**	= कठिन है।	**ब्रह्म**	= ब्रह्मको
अयोगतः	= कर्मयोगके बिना	**मुनिः**	= मननशील	**अधिगच्छति**	= प्राप्त हो जाता है।
सन्न्यासः	= सांख्ययोग	**योगयुक्तः**	= कर्मयोगी		

~~~

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

जितेन्द्रियः = जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं,
विशुद्धात्मा = जिसका अन्तः-करण निर्मल है,
विजितात्मा = जिसका शरीर अपने वशमें है
(और)
सर्वभूतात्मभूतात्मा = सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मा है, (ऐसा)
योगयुक्तः = कर्मयोगी
कुर्वन् = (कर्म) करते हुए
अपि = भी
न, लिप्यते = लिप्त नहीं होता।

विशेष भाव— शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण जब कर्मयोगीको सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ अपनी एकताका अनुभव हो जाता है, तब कर्म करते हुए भी उसमें कर्तापन नहीं रहता। कर्तापन न रहनेसे उसके द्वारा होनेवाले कर्म बन्धनकारक नहीं होते (गीता १८। १७)।

~~~

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

तत्त्ववित् = तत्त्वको जाननेवाला
युक्तः = सांख्ययोगी
पश्यन् = देखता हुआ,
शृण्वन् = सुनता हुआ,
स्पृशन् = छूता हुआ,
जिघ्रन् = सूँघता हुआ,
अश्नन् = खाता हुआ,
गच्छन् = चलता हुआ
गृह्णन् = ग्रहण करता हुआ,
प्रलपन् = बोलता हुआ,
विसृजन् = (मल-मूत्रका) त्याग करता हुआ,
स्वपन् = सोता हुआ,
श्वसन् = श्वास लेता हुआ (तथा)
उन्मिषन् = आँख खोलता हुआ (और)
निमिषन् = मूँदता हुआ
अपि = भी
इन्द्रियाणि = 'सम्पूर्ण इन्द्रियाँ
इन्द्रियार्थेषु = इन्द्रियोंके विषयोंमें
वर्तन्ते = बरत रही हैं'—
इति = ऐसा
धारयन् = समझकर
किञ्चित् = '(मैं स्वयं) कुछ
एव = भी
न = नहीं
करोमि = करता हूँ'—
इति = ऐसा
मन्येत = माने।

विशेष भाव— विवेकशील ज्ञानयोगी पहले ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा प्राणोंसे होनेवाली क्रियाओंको करते हुए भी 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा मानता है, फिर उसको ऐसा अनुभव हो जाता है। वास्तवमें चिन्मय सत्तामात्रमें न करना है, न होना है! स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरमें होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही होती हैं, स्वयंमें नहीं। अतः स्वयंका किसी भी क्रियासे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

अविवेकपूर्वक अहम्‌को अपना स्वरूप माननेसे जो '**अहङ्कारविमूढात्मा**' हो गया था (गीता ३। २७), वही विवेकपूर्वक अपनेको अहम्‌से अलग अनुभव करनेपर '**तत्त्ववित्**' हो जाता है अर्थात् उसमें कर्तृत्व नहीं रहता। वह निरन्तर चिन्मय तत्त्वमें ही स्थित रहता है।

अहंकारसे मोहित होकर स्वयंने भूलसे अपनेको कर्ता मान लिया तो वह कर्मोंसे तथा उनके फलोंसे बँध गया और चौरासी लाख योनियोंमें चला गया। अब अगर वह अपनेको अहम्‌से अलग माने और अपनेको कर्ता
~~~

न माने अर्थात् स्वयं वास्तवमें जैसा है, वैसा ही अनुभव कर ले तो उसके तत्त्ववित् (मुक्त) होनेमें आश्चर्य ही क्या है? तात्पर्य है कि जो असत्य है, वह भी जब सत्य मान लेनेसे सत्य दीखने लग गया, तो फिर जो वास्तवमें सत्य है, उसको मान लेनेपर वह वैसा ही दीखने लग जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है?

वास्तवमें स्वयं जिस समय अपनेको कर्ता-भोक्ता मानता है, उस समय भी वह कर्ता-भोक्ता नहीं है—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। कारण कि अपना स्वरूप सत्तामात्र है। सत्तामें अहम् नहीं है और अहम्‌की सत्ता नहीं है। अतः 'मैं कर्ता हूँ'—यह मान्यता कितनी ही दृढ़ हो, है तो भूल ही! भूलको भूल मानते ही भूल मिट जाती है—यह नियम है। किसी गुफामें सैकड़ों वर्षोंसे अन्धकार हो तो प्रकाश करते ही वह तत्काल मिट जाता है, उसके मिटनेमें अनेक वर्ष-महीने नहीं लगते। इसलिये साधक दृढ़तासे यह मान ले कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ।' फिर यह मान्यता मान्यतारूपसे नहीं रहेगी, प्रत्युत अनुभवमें परिणत हो जायगी।

जड़-चेतनका तादात्म्य होनेसे 'मैं' का प्रयोग जड़ (तादात्म्यरूप अहम्) के लिये भी होता है और चेतन (स्वरूप)के लिये भी होता है। जैसे, 'मैं कर्ता हूँ'—इसमें जड़की तरफ दृष्टि है और 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—इसमें (जड़का निषेध होनेसे) चेतनकी तरफ दृष्टि है। जिसकी दृष्टि जड़की तरफ है अर्थात् जो अहम्‌को अपना स्वरूप मानता है, वह **'अहङ्कारविमूढात्मा'** है और जिसकी दृष्टि चेतन (अहंरहित स्वरूप)की तरफ है, वह **'तत्त्ववित्'** है।

जब साधक वर्तमानमें 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'—इस प्रकार स्वयंको अकर्ता अनुभव करनेकी चेष्टा करता है, तब उसके सामने एक बड़ी समस्या आती है। जब उसको भूतकालमें किये हुए अच्छे कर्मोंकी याद आती है, तब वह प्रसन्न हो जाता है कि मैंने बहुत अच्छा काम किया, बहुत ठीक किया! और जब उसको निषिद्ध कर्मोंकी याद आती है, तब वह दुःखी हो जाता है कि मैंने बहुत बुरा काम किया, बहुत गलती की। इस प्रकार भूतकालमें किये गये कर्मोंके संस्कार उसको सुखी-दुःखी करते हैं। इस विषयमें एक मार्मिक बात है। स्वरूपमें कर्तापन न तो वर्तमानमें है, न भूतकालमें था और न भविष्यमें ही होगा। अतः साधकको यह देखना चाहिये कि जैसे वर्तमानमें स्वयं अकर्ता है, ऐसे ही भूतकालमें भी स्वयं अकर्ता ही था। कारण कि वर्तमान ही भूतकालमें गया है। स्वरूप सत्तामात्र है और सत्तामात्रमें कोई कर्म करना बनता ही नहीं। कर्म केवल अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाले अज्ञानी मनुष्यके द्वारा ही होते हैं (गीता ३। २७)। साधकको भूतकालमें किये हुए कर्मोंकी याद आनेसे जो सुख-दुःख होता है, चिन्ता होती है, यह भी वास्तवमें अहंकारके कारण ही है। वर्तमानमें अहंकारविमूढात्मा होकर अर्थात् अहंकारके साथ अपना सम्बन्ध मानकर ही साधक सुखी-दुःखी होता है। स्थूलदृष्टिसे देखें तो जैसे अभी भूतकालका अभाव है, ऐसे ही भूतकालमें किये गये कर्मोंका भी अभी प्रत्यक्ष अभाव है। सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो जैसे भूतकालमें वर्तमानका अभाव था, ऐसे ही भूतकालका भी अभाव था। इसी तरह वर्तमानमें जैसे भूतकालका अभाव है, ऐसे ही वर्तमानका भी अभाव है। परन्तु सत्ताका नित्य-निरन्तर भाव है। तात्पर्य है कि सत्तामात्रमें भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनोंका ही सर्वथा अभाव है। सत्ता कालसे अतीत है। अतः वह किसी भी कालमें कर्ता नहीं है। उस कालातीत और अवस्थातीत सत्तामें किसी कालविशेष और अवस्थाविशेषको लेकर कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वका आरोप करना अज्ञान है। अतः भूतकालमें किये गये कर्मोंकी स्मृति अहंकारविमूढात्माकी स्मृति है, तत्त्ववित्‌की नहीं।

'नैव किञ्चित्करोमि' का तात्पर्य है कि क्रिया नहीं है, पर सत्ता है। अतः साधककी दृष्टि सत्तामात्रकी तरफ रहनी चाहिये। वह सत्ता चिन्मय होनेसे ज्ञानस्वरूप है और निर्विकार होनेसे आनन्दस्वरूप है। यह आनन्द अखण्ड, शान्त, एकरस है।

शरीरसे तादात्म्य होनेके कारण प्रत्येक क्रियामें स्वयंकी मुख्यता रहती है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ आदि। क्रिया तो होती है शरीरमें, पर मान लेते हैं अपनी। स्वयंमें कोई क्रिया नहीं है, वह करने और न करने—दोनोंसे रहित है (गीता ३। १८), इसलिये शरीरके द्वारा क्रिया होनेपर भी सत्तामात्र अपने स्वरूपपर दृष्टि रहनी चाहिये कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

~~~~
~~~~

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥

यः	= जो (भक्तियोगी)	**सङ्गम्**	= आसक्तिका	**पद्मपत्रम्**	= कमलके पत्तेकी
कर्माणि	= सम्पूर्ण कर्मोंको	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके	**इव**	= तरह
ब्रह्मणि	= परमात्मामें	**करोति**	= (कर्म) करता है,	**पापेन**	= पापसे
आधाय	= अर्पण करके (और)	**सः**	= वह	**न, लिप्यते**	= लिप्त नहीं होता।
		अम्भसा	= जलसे		

विशेष भाव—यहाँ सगुण ईश्वरको '**ब्रह्म**' कहनेका तात्पर्य है कि ईश्वर सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार सब कुछ है; क्योंकि वह समग्र है। समग्रमें सब आ जाते हैं (गीता ७। २९-३०)। श्रीमद्भागवतमें भी ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), परमात्मा (सगुण-निराकार) और भगवान् (सगुण-साकार)—तीनोंको एक बताया है*। तात्पर्य यह हुआ कि 'सगुण' के अन्तर्गत ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीनों आ जाते हैं, पर 'निर्गुण' के अन्तर्गत केवल ब्रह्म ही आता है; क्योंकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अतः निर्गुण सीमित है और सगुण समग्र है।

वैष्णवलोग सगुण-साकार भगवान्के उत्सवको '**ब्रह्मोत्सव**' नामसे कहते हैं। अर्जुनने भी भगवान् श्रीकृष्णको 'ब्रह्म' नामसे कहा है—'**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्**' (गीता १०। १२)। गीतामें ब्रह्मके तीन नाम बताये हैं—'**ॐ**', '**तत्**' और '**सत्**' (१७। २३)। नाम-नामीका सम्बन्ध होनेसे यह भी सगुण ही हुआ।

~~~

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥

योगिनः	= कर्मयोगी	**इन्द्रियैः**	= इन्द्रियाँ,	**आत्मशुद्धये**	= अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये
सङ्गम्	= आसक्तिका	**कायेन**	= शरीर,	**अपि**	= ही
त्यक्त्वा	= त्याग करके	**मनसा**	= मन (और)	**कर्म**	= कर्म
केवलैः	= केवल (ममतारहित)	**बुद्ध्या**	= बुद्धिके द्वारा	**कुर्वन्ति**	= करते हैं।

विशेष भाव—शुद्ध करनेसे अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता; क्योंकि शुद्ध करनेसे अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक 'मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय'—यह भाव रहेगा, तबतक अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि ममता ही खास अशुद्धि है। इसीलिये रामायणमें आया है—***'ममता मल जरि जाइ'*** (मानस, उत्तर० ११७ क)। भगवान्ने भी यहाँ '**केवलैः**' पदसे अन्तःकरणके साथ ममता न रखनेकी बात कही है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें ममताका सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। अतः अन्तःकरणमें ममता (अपनापन) सर्वथा मिटानेके उद्देश्यसे कर्मयोगी अनासक्त भावसे कर्म करते हैं। वे अपने लिये कोई कर्म नहीं करते। कारण कि ममता रखनेसे कर्म होते हैं, कर्मयोग नहीं होता। अपने लिये कोई कर्म न करनेसे कर्मयोगीकी गति स्वरूपकी तरफ होती है।

कर्मयोगी पहले ममतारहित होनेका उद्देश्य बनाकर कर्म करता है, फिर उसके उद्देश्यकी सिद्धि हो जाती है।

~~~

* **वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥** (१। २। ११)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

युक्तः	= कर्मयोगी	**शान्तिम्**	= शान्तिको	**कामकारेण**	= कामनाके कारण
कर्मफलम्	= कर्मफलका	**आप्नोति**	= प्राप्त होता है।	**फले**	= फलमें
त्यक्त्वा	= त्याग करके		(परन्तु)	**सक्तः**	= आसक्त होकर
नैष्ठिकीम्	= नैष्ठिकी	**अयुक्तः**	= सकाम मनुष्य	**निबध्यते**	= बँध जाता है।

विशेष भाव—वास्तवमें मुक्तिके लिये अथवा परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करना भी फलासक्ति है। मनुष्यकी आदत पड़ी हुई है कि वह प्रत्येक कार्य फलकी कामनासे करता है, इसीलिये कहा जाता है कि मुक्तिके लिये, परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करे। वास्तवमें साधन केवल असाधनको मिटानेके लिये है। मुक्ति स्वतःसिद्ध है। परमात्मा नित्यप्राप्त हैं। परमात्मप्राप्ति किसी क्रियाका फल नहीं है। अतः कुछ करनेसे परमात्मप्राप्ति होगी—ऐसी इच्छा रखनी भी फलेच्छा है।

साधकको यह नहीं देखना चाहिये कि मैं यह साधन करूँगा तो इसका यह फल होगा। फलको देखना ही फलासक्ति है, जिससे वर्तमानमें साधन ठीक नहीं होता। अतः फलको न देखकर अपने साधनको देखना चाहिये, साधन तत्पर होकर करना चाहिये, फिर सिद्धि अपने-आप आयेगी। अगर साधक फलकी ओर देखता रहेगा तो सिद्धि नहीं होगी।

हम निर्विकल्प, निष्काम हो जायँगे तो बड़ा सुख मिलेगा—इस प्रकार मूलमें सुख लेनेकी जो इच्छा रहती है, यह भी फलेच्छा है, जो साधकको निर्विकल्प, निष्काम नहीं होने देती।

~~~

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ १३॥

वशी	= जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें हैं, (ऐसा)	**सर्वकर्माणि**	= सम्पूर्ण कर्मोंका	**कुर्वन्**	= करता हुआ (और)
		मनसा	= (विवेकपूर्वक) मनसे	**न**	= न
				कारयन्	= करवाता हुआ
देही	= देहधारी पुरुष	**सन्न्यस्य**	= त्याग करके	**सुखम्**	= सुखपूर्वक (अपने स्वरूपमें)
नवद्वारे	= नौ द्वारोंवाले	**एव**	= निःसन्देह		
पुरे	= (शरीररूपी) पुरमें	**न**	= न	**आस्ते**	= स्थित रहता है।

विशेष भाव—'सुखं आस्ते' पदोंका तात्पर्य है कि शरीरसे जो सम्बन्ध माना था, उस सम्बन्धका विच्छेद हो जानेपर ज्ञानयोगीको स्वरूपमें स्थिति करनी नहीं पड़ती, प्रत्युत उसको स्वरूपमें स्वतः-स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। इन पदोंसे सिद्ध होता है कि स्वरूपमें स्थितिका अनुभव करनेमें कोई परिश्रम, प्रयत्न, उद्योग नहीं है अर्थात् कुछ करना नहीं है।

'नैव कुर्वन्न कारयन्'—तत्त्वप्राप्तिमें करनेका भाव ही बाधक है। करनेके भावसे ही कर्तृत्व आता है और कर्तृत्वसे व्यक्तित्व आता है। क्रिया प्रकृतिमें है, स्वरूपमें स्वतः अक्रियता है। अतः करनेसे प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और कुछ नहीं करनेसे स्वरूपमें स्वतः स्थिति होती है। मेरेको कुछ नहीं करना है—यह भाव भी 'करने'के ही अन्तर्गत है। अतः करनेसे भी मतलब नहीं होना चाहिये और न करनेसे भी मतलब नहीं होना चाहिये—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३। १८)। स्वरूप करने और न करने—दोनोंसे रहित अर्थात् निरपेक्ष तत्त्व है।

'वशी'—गुणोंके संगसे ही जीव **'अवश'** अर्थात् पराधीन होता है (गीता ३। ५)। ज्ञानयोगसे अवशता मिट जाती है और जीव **'वशी'** अर्थात् स्वाधीन, निरपेक्ष जीवन हो जाता है।

~~~

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥

प्रभुः	= परमेश्वर	**कर्माणि**	= कर्मोंकी (और)	**सृजति**	= रचना करते हैं;
लोकस्य	= मनुष्योंके	**न**	= न		
न	= न	**कर्मफल-**		**तु**	= किन्तु
कर्तृत्वम्	= कर्तापनकी,	**संयोगम्**	= कर्मफलके साथ संयोगकी	**स्वभावः**	= स्वभाव (ही)
न	= न			**प्रवर्तते**	= बरत रहा है।

विशेष भाव—कर्तापन, कर्म और कर्मफलका संयोग परमात्माकी सृष्टि नहीं है, प्रत्युत जीवकी सृष्टि है। इसलिये जीवपर ही इनके त्यागकी जिम्मेवारी है।

'**स्वभावस्तु प्रवर्तते**'—वास्तवमें संसारके साथ सम्बन्ध-विच्छेद स्वाभाविक है; परन्तु अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकता देखनेके कारण संसारका सम्बन्ध स्वाभाविक दीखने लग गया। यह स्वभाव स्वतः नहीं है, प्रत्युत बनाया हुआ (कृत्रिम) है।

~~~

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

विभुः	= सर्वव्यापी परमात्मा	**न**	= न	**ज्ञानम्**	= ज्ञान
		सुकृतम्	= शुभ-कर्मको	**आवृतम्**	= ढका हुआ है,
न	= न	**एव**	= ही	**तेन**	= उसीसे
कस्यचित्	= किसीके	**आदत्ते**	= ग्रहण करता है; (किन्तु)	**जन्तवः**	= सब जीव
पापम्	= पापकर्मको			**मुह्यन्ति**	= मोहित हो रहे हैं।
च	= और	**अज्ञानेन**	= अज्ञानसे		

विशेष भाव—जैसे अन्धकारमें सूर्यको ढकनेकी सामर्थ्य नहीं है, ऐसे ही अज्ञानमें ज्ञानको ढकनेकी सामर्थ्य नहीं है। अस्वाभाविकको स्वाभाविक मान लिया—यही अज्ञान है, जिससे मनुष्य मोहित हो जाता है। अतः अज्ञानके द्वारा ज्ञानको ढकनेकी बात केवल मूढ़तावश की गयी मान्यता है, वास्तविकता नहीं है। मनुष्य चाहे तो अपने विवेकको महत्त्व देकर इस मूढ़ताको मिटा सकता है (गीता ५। १६)।

वास्तवमें ज्ञान नहीं ढकता, प्रत्युत बुद्धि ही ढकती है। परन्तु मनुष्यको ज्ञान ढका हुआ दीखता है, इसलिये यहाँ '**आवृत**' शब्द दिया है। यही बात तीसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें भी '**आवृतं ज्ञानमेतेन**' पदोंसे कही गयी है। अज्ञान अभावरूप है, उसकी सत्ता नहीं है। जिसका अभाव है, उससे आवरण नहीं हो सकता। अतः उलटा ज्ञान अर्थात् अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताका आरोप ही अज्ञान है*। अगर अस्वाभाविकता मिटकर स्वाभाविकता हो जाय तो सर्वव्यापी परमात्माके साथ एकताका अनुभव हो जायगा। व्यक्तित्व ही पाप-पुण्यको, सुकृत-दुष्कृतको ग्रहण करता है; अतः सर्वव्यापी परमात्माके साथ एकताका अनुभव होनेपर अर्थात् व्यक्तित्व मिटनेपर फिर पाप-पुण्यका ग्रहण नहीं होता।

अज्ञान अर्थात् उलटे ज्ञान (अस्वाभाविकमें स्वाभाविक बुद्धि)के कारण मनुष्य 'जन्तु' हो जाता है—'**तेन मुह्यन्ति जन्तवः**'। इसी तरह जड़से सम्बन्ध माननेके कारण जीव 'जगत्' (जड़) हो जाता है (गीता ७। १३)।

---

* **अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।** (योगदर्शन २। ५)
'अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्मभावकी अनुभूति अविद्या है।'
~~~

जो हमसे घुला-मिला हुआ है, उस परमात्माको तो अपनेसे अलग मान लिया और जो हमसे अलग है, उस शरीरको अपनेसे घुला-मिला मान लिया—यह अज्ञान है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

तु	=परन्तु	**अज्ञानम्**	=अज्ञानका	**आदित्यवत्**	=सूर्यकी तरह
येषाम्	=जिन्होंने	**नाशितम्**	=नाश कर दिया है,	**परम्**	=परमतत्त्व परमात्माको
आत्मनः	=अपने जिस	**तेषाम्**	=उनका	**प्रकाशयति**	=प्रकाशित कर देता है।
ज्ञानेन	=ज्ञानके द्वारा	**तत्**	=वह		
तत्	=उस	**ज्ञानम्**	=ज्ञान		

विशेष भाव—अज्ञानका नाश विवेकसे ही होता है, उद्योगसे नहीं—**'यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः'** (गीता १५। ११)। कारण कि अज्ञानका नाश क्रियासाध्य, परिश्रमसाध्य नहीं है। परिश्रम करनेसे शरीरके साथ सम्बन्ध बना रहता है; क्योंकि शरीरसे सम्बन्ध जोड़े बिना परिश्रम नहीं होता। दूसरी बात, अज्ञानको हटानेका उद्योग करनेसे अज्ञान दृढ़ होता है; क्योंकि उसकी सत्ता मानकर ही उसको हटानेका उद्योग करते हैं।

अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताकी विपरीत भावना (अज्ञान) अपनेमें ही है। अतः विवेकका आदर करनेसे उसका निराकरण हो जाता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥

तदात्मानः	=जिनका मन तदाकार हो रहा है,		परमात्मतत्त्वमें है, (ऐसे)		पापरहित होकर
तद्बुद्धयः	=जिनकी बुद्धि तदाकार हो रही है,	**तत्परायणाः**	=परमात्मपरायण साधक	**अपुनरावृत्तिम्**	=अपुनरावृत्ति (परमगति)को
तन्निष्ठाः	=जिनकी स्थिति	**ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**	=ज्ञानके द्वारा	**गच्छन्ति**	=प्राप्त होते हैं।

विशेष भाव—अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताकी भावना मिटनेपर एक परमात्माके सिवाय अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती और साधक परमात्मस्वरूप ही हो जाता है, जो कि वास्तवमें स्वतःसिद्ध है। अतः उसके पुनः संसार-बन्धनमें आनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४। २)।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

पण्डिताः	=ज्ञानी महापुरुष	**च**	=और	**शुनि**	=कुत्तेमें
विद्याविनय-सम्पन्ने	=विद्या-विनययुक्त	**श्वपाके**	=चाण्डालमें	**एव**	=भी
		च	=तथा	**समदर्शिनः**	=समरूप परमात्माको देखनेवाले होते हैं।
		गवि	=गाय,		
ब्राह्मणे	=ब्राह्मणमें	**हस्तिनि**	=हाथी (एवं)		

विशेष भाव—ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय, हाथी और कुत्ता—ये सभी तो हरदम बदल रहे हैं और अभावमें जा रहे हैं, पर उनमें रहनेवाला जो भावरूप सत्-तत्त्व है, वह कभी बदलता नहीं, प्रत्युत नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। ज्ञानीलोग उस सत्-तत्त्वको ही देखते हैं। जैसे चींटी रेतमें मिली हुई चीनीके दानेको पकड़कर निकाल लेती है, ऐसे ही ज्ञानियोंकी विवेकवती सूक्ष्म दृष्टि असत् संसारमें व्याप्त सत्-तत्त्वको पकड़ लेती है। तात्पर्य है कि ब्राह्मण हो या चाण्डाल, गाय हो या कुत्ता, हाथी हो या चींटी, विषम-से-विषम प्राणियोंमें भी उनकी दृष्टि सदा सम ही रहती है। व्यवहार विषम (यथायोग्य) होते हुए भी उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

येषाम्	=जिनका	**एव**	=ही	**ब्रह्म**	=ब्रह्म
मनः	=अन्तःकरण	**सर्गः**	=सम्पूर्ण संसारको	**निर्दोषम्**	=निर्दोष (और)
साम्ये	=समतामें	**जितः**	=जीत लिया है	**समम्**	=सम है,
स्थितम्	=स्थित है,		अर्थात् वे	**तस्मात्**	=इसलिये
तैः	=उन्होंने		जीवन्मुक्त	**ते**	=वे
इह	=इस जीवित-		हो गये हैं;	**ब्रह्मणि**	=ब्रह्ममें (ही)
	अवस्थामें	**हि**	=क्योंकि	**स्थिताः**	=स्थित हैं।

विशेष भाव—यहाँ आये **'मन'** शब्दको बुद्धिका वाचक समझना चाहिये; क्योंकि समतामें मन स्थित नहीं होता, प्रत्युत बुद्धि ही स्थित होती है। मन ध्यानमें स्थित होता है। यह प्रकरण भी स्थिरबुद्धिका है। मनकी स्थिरता केवल ध्यानावस्थामें रहती है, व्यवहारमें नहीं; परन्तु बुद्धिकी स्थिरता निरन्तर रहती है। कल्याण मनकी स्थिरतासे नहीं होता, प्रत्युत बुद्धिकी स्थिरतासे होता है। मनकी स्थिरतासे सिद्धियाँ पैदा होती हैं। अतः मनकी स्थिरता इतनी ऊँची नहीं है, जितनी बुद्धिकी स्थिरता। भगवान्‌ने भी दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ (स्थिरबुद्धि) होनेकी महिमा कही है। अगले श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है—**'स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः'।**

साधक भूलसे अपनेको तत्त्वज्ञ न मान ले, इसलिये यह पहचान बतायी है कि अगर बुद्धिमें समता नहीं आयी है तो समझ लेना चाहिये कि अभी तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, केवल वहम हुआ है! बुद्धिकी समताका स्वरूप है—राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि न होना। तत्त्वप्राप्ति होनेपर बुद्धिमें निरन्तर समता रहती है। इस समतासे बुद्धिका कभी व्युत्थान अथवा वियोग नहीं होता।

जिनकी बुद्धि समतामें स्थित है, उनमें राग-द्वेष नहीं रहते। उनकी यह समबुद्धि स्वतः अटल बनी रहती है कि सब कुछ एक परमात्मा ही हैं। जब एक परमात्मतत्त्वके सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तो फिर कौन द्वेष करे और किससे करे? जब एक ही सत्ता अटल अनुभवमें आ जाती है, तब कोई कामना नहीं रहती और अशान्ति भी नहीं रहती।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

प्रियम्	=(जो) प्रियको	**प्राप्य**	=प्राप्त होकर	**असम्मूढः**	=मूढ़तारहित (ज्ञानी)
प्राप्य	=प्राप्त होकर	**न,उद्विजेत्**	=उद्विग्न न	**ब्रह्मवित्**	=(तथा) ब्रह्मको
न, प्रहृष्येत्	=हर्षित न हो		हो,		जाननेवाला मनुष्य
च	=और	**स्थिरबुद्धिः**	=(वह)	**ब्रह्मणि**	=ब्रह्ममें
अप्रियम्	=अप्रियको		स्थिरबुद्धिवाला,	**स्थितः**	=स्थित है।

विशेष भाव—सुषुप्ति और मूर्च्छामें मनुष्यका शरीरसे अज्ञानपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद होता है अर्थात् मन अविद्यामें लीन होता है; अतः इन अवस्थाओंमें मनुष्यको प्रिय और अप्रियका, शारीरिक पीड़ा आदिका ज्ञान ही नहीं होता। परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुषका शरीरसे ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद होता है। इसलिये उसको प्रिय और अप्रियका, शरीरकी पीड़ा आदिका ज्ञान तो होता है, पर उनसे वह हर्षित-उद्विग्न, सुखी-दुःखी नहीं होता। उसकी शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी परवशता मिट जाती है।

ब्रह्मको जानना और उसमें स्थित होना—दोनों एक ही हैं।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥

बाह्यस्पर्शेषु = बाह्यस्पर्श (प्राकृत वस्तुमात्रके सम्बन्ध) में
असक्तात्मा = आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक
आत्मनि = अन्तःकरणमें
यत् = जो
सुखम् = (सात्त्विक) सुख है, (उसको)
विन्दति = प्राप्त होता है। (फिर)
सः = वह
ब्रह्मयोगयुक्तात्मा = ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित मनुष्य
अक्षयम् = अक्षय
सुखम् = सुखका
अश्नुते = अनुभव करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

हि = क्योंकि
कौन्तेय = हे कुन्तीनन्दन!
ये = जो
संस्पर्शजाः = इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले
भोगाः = भोग (सुख) हैं,
ते = वे
आद्यन्तवन्तः = आदि-अन्तवाले (और)
दुःखयोनयः, एव = दुःखके ही कारण हैं। (अतः)
बुधः = विवेकशील मनुष्य
तेषु = उनमें
न, रमते = रमण नहीं करता।

विशेष भाव—वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धसे होनेवाला सुख दुःखोंका कारण है। सुखके भोगीको नियमसे दुःख भोगना ही पड़ता है। सुखकी आशा, कामना और भोगसे वास्तवमें सुख नहीं मिलता, प्रत्युत दुःख ही मिलता है। भोगोंका संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। मनुष्य अनित्यको महत्त्व देकर ही दुःख पाता है। उसको विचार करना चाहिये कि क्या सुख चाहनेसे सुख मिल जायगा और दुःखोंका नाश हो जायगा ? सुखकी इच्छा करनेसे न तो सुख मिलता है और न दुःख मिटता है। दुःखको मिटानेके लिये सुखकी इच्छा करना दुःखकी जड़ है।

एक दुःखका भोग होता है और एक दुःखका प्रभाव होता है। जब मनुष्य दुःखका भोग करता है, तब उसमें सुखकी इच्छा उत्पन्न होती है और जब उसपर दुःखका प्रभाव होता है, तब सुखकी इच्छा मिट जाती है, उससे अरुचि हो जाती है। दुःखके भोगसे मनुष्य दुःखी होता है और दुःखके प्रभावसे वह दुःखसे ऊँचा उठता है। दुःखके प्रभावसे वह दुःखमें तल्लीन न होकर उसके कारणपर विचार करता है कि मेरेको दुःख क्यों हुआ ? विचार करनेपर उसको पता लगता है कि सुखासक्तिके सिवाय दुःखका और कोई कारण है नहीं, था नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं। परिस्थिति भी दुःखका कारण नहीं है; क्योंकि वह बेचारी एक क्षण भी टिकती नहीं। कोई प्राणी भी दुःखका कारण नहीं है; क्योंकि वह हमारे पुराने पापोंका नाश करता है और आगे विकास करता है। संसार

भी दुःखका कारण नहीं है; क्योंकि जो भी परिवर्तन होता है, वह हमें दुःख देनेके लिये नहीं होता, प्रत्युत हमारे विकासके लिये होता है। अगर परिवर्तन न हो तो विकास कैसे होगा? परिवर्तनके बिना बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? रज-वीर्यका शरीर कैसे बनेगा? बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? तात्पर्य है कि स्वाभाविक परिवर्तन विकास करनेवाला है। संसारमें परिवर्तन ही सार है। परिवर्तनके बिना संसार एक अचल, स्थिर चित्रकी तरह ही होता। अतः परिवर्तन दोषी नहीं है, प्रत्युत उसमें सुखबुद्धि करना दोषी है। भगवान् भी दुःखके कारण नहीं हैं, क्योंकि वे आनन्दघन हैं, उनके यहाँ दुःख है ही नहीं।

'न तेषु रमते बुधः'—विवेकी मनुष्य भोगोंमें रमण नहीं करता; क्योंकि भोगोंकी कामना विवेकियोंकी नित्य वैरी है—**'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'** (गीता ३। ३९)। अविवेकीको भोग अच्छे लगते हैं; क्योंकि दोषोंमें गुणबुद्धि अविवेकसे ही होती है। सभी भोग दोषजनित होते हैं। अन्तःकरणमें कोई दोष न हो तो कोई भोग नहीं होता। दोष विवेकीको ही दीखता है। इसलिये वह भोगोंमें रमण नहीं करता अर्थात् उनसे सुख नहीं लेता।

विवेकी मनुष्य उस वस्तुको नहीं चाहता, जो सदा उसके साथ न रहे। अपने विवेकसे वह इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मिली हुई कोई भी वस्तु, व्यक्ति, योग्यता और सामर्थ्य मेरी नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है। इतना ही नहीं, अनन्त सृष्टिमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो मेरी हो और मेरे लिये हो। प्यारी-से-प्यारी वस्तु भी सदाके लिये मेरी नहीं है, सदा मेरे साथ रहनेवाली नहीं है। इसलिये विवेकी मनुष्य यह निश्चय कर लेता है कि जो वस्तु और व्यक्ति सदा मेरे साथ रहनेवाले नहीं हैं, उनके बिना मैं सदाके लिये प्रसन्नतासे रह सकता हूँ।

~~~

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

इह	=इस मनुष्यशरीरमें	**कामक्रोधोद्भवम्**	=काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले	**सः**	=वह
यः	=जो कोई (मनुष्य)			**नरः**	=नर
				युक्तः	=योगी है (और)
शरीरविमोक्षणात्	=शरीर छूटनेसे	**वेगम्**	=वेगको		
प्राक्	=पहले	**सोढुम्**	=सहन करनेमें	**सः**	=वही
एव	=ही	**शक्नोति**	=समर्थ होता है,	**सुखी**	=सुखी है।

विशेष भाव—पहले स्फुरणा होती है। उस स्फुरणामें सत्ता, आसक्ति और आग्रह होनेसे वह स्फुरणा पकड़ी जाती है और संकल्प बन जाती है। संकल्पसे मनोरथ (मनोराज्य) होने लगता है, जिससे काम-क्रोधादिका वेग उत्पन्न होता है (गीता २। ६२-६३)। साधकके लिये एक नम्बरकी बात तो यह है कि वेग उत्पन्न ही न होने दे अर्थात् संकल्प न करे। दो नम्बरकी बात है कि वेग उत्पन्न होनेपर भी वैसी क्रिया न करे।

~~~

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥

यः	=जो मनुष्य (केवल)	**तथा**	=तथा		
अन्तःसुखः	=परमात्मामें सुखवाला (और)	**यः**	=जो		
अन्तरारामः	=(केवल) परमात्मामें रमण करनेवाला है	**अन्तर्ज्योतिः, एव**	=केवल परमात्मामें ज्ञानवाला है,		
		सः	=वह		
		ब्रह्मभूतः	=ब्रह्ममें अपनी स्थितिका अनुभव करनेवाला (ब्रह्मरूप बना हुआ)	**योगी**	=सांख्ययोगी
				ब्रह्मनिर्वाणम्	=निर्वाण ब्रह्मको
				अधिगच्छति	=प्राप्त होता है।

विशेष भाव— यहाँ **'अन्तः'** पदका अर्थ 'परमात्मा' मानना चाहिये, न कि 'अन्तःकरण'। कारण कि अन्तःकरणमें सुखवाले अथवा अन्तःकरणमें रमण करनेवाले या अन्तःकरणमें ज्ञानवाले मनुष्यको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ब्रह्मकी प्राप्ति तो अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होती है।

~~~

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥

यतात्मानः	=जिनका शरीर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित वशमें है,	**रताः**	=रत हैं,		गये हैं,
सर्वभूतहिते	=जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें	**छिन्नद्वैधाः**	=जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं,	**ऋषयः**	=(वे) विवेकी साधक
		क्षीणकल्मषाः	=जिनके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो	**ब्रह्मनिर्वाणम्**	=निर्वाण ब्रह्मको
				लभन्ते	=प्राप्त होते हैं।

विशेष भाव— लोगोंकी दृष्टिमें ज्ञानयोगी दूसरोंका हित करता हुआ **(सर्वभूतहिते रताः)** दीखता है, पर वास्तवमें वह दूसरोंका हित करता नहीं, प्रत्युत उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक दूसरोंका हित होता है।

~~~

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

कामक्रोध-वियुक्तानाम्	=काम-क्रोधसे सर्वथा रहित,	**विदितात्मनाम्**	=स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए		हुए अथवा शरीर छूटनेके बाद)
यतचेतसाम्	=जीते हुए मनवाले (और)	**यतीनाम्**	=सांख्ययोगियोंके लिये	**ब्रह्मनिर्वाणम्**	=निर्वाण ब्रह्म
		अभितः	=सब ओरसे (शरीरके रहते	**वर्तते**	=परिपूर्ण है।

~~~

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८॥

बाह्यान्	=बाहरके	**भ्रुवोः**	=भौंहोंके		वायुको
स्पर्शान्	=पदार्थोंको	**अन्तरे**	=बीचमें (स्थित करके)	**समौ**	=सम
बहिः	=बाहर			**कृत्वा**	=करके
एव	=ही	**नासाभ्यन्तरचारिणौ**	= (तथा) नासिकामें विचरनेवाले	**यतेन्द्रियमनोबुद्धिः**	=जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने वशमें हैं,
कृत्वा	=छोड़कर				
च	=और				
चक्षुः	=नेत्रोंकी दृष्टिको	**प्राणापानौ**	=प्राण और अपान	**यः**	=जो
~~~

मोक्षपरायणः	=(केवल) मोक्ष-परायण है (तथा)		भय और क्रोधसे सर्वथा रहित है,	**मुनिः**	=मुनि
विगतेच्छाभयक्रोधः	=(जो) इच्छा,	**सः**	=वह	**सदा**	=सदा
				मुक्तः	=मुक्त
				एव	=ही है।

विशेष भाव—बाहरके पदार्थोंको बाहर ही छोड़नेका तात्पर्य है—स्वयंको शरीरसे अलग कर लेना कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और मेरे लिये नहीं है। ये तीन बातें प्रत्येक साधकको माननी ही पड़ेंगी, चाहे वह किसी भी योगमार्गसे क्यों न चले। शरीरके साथ अपना कोई सम्बन्ध न मानें तो मुक्ति स्वत:सिद्ध है।

पहले चौबीसवें श्लोकमें '**अन्तः**' शब्द आया था, इसलिये यहाँ '**बाह्य**' शब्द दिया है। वास्तवमें बाह्य कोई वस्तु नहीं है, प्रत्युत केवल वृत्ति है। '**बाह्य**' शब्दका प्रयोग दूसरी सत्ता मानकर ही होता है, जबकि वास्तवमें सत्ता एक ही है। अत: '**स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्**' पदोंका तात्पर्य है कि एक तत्त्वके सिवाय दूसरी किसी सत्ताकी मान्यता न रहे।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

माम्	=मुझे		लोकोंका महान् ईश्वर (तथा)		दयालु और प्रेमी)
यज्ञतपसाम्	=सब यज्ञों और तपोंका	**सर्वभूतानाम्**	=सम्पूर्ण प्राणियोंका	**ज्ञात्वा**	=जानकर (भक्त)
भोक्तारम्	=भोक्ता,			**शान्तिम्**	=शान्तिको
सर्वलोकमहेश्वरम्	=सम्पूर्ण	**सुहृदम्**	=सुहृद् (स्वार्थरहित	**ऋच्छति**	=प्राप्त हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥